

साकेत - नवम सर्ग (मैथिलीशरण गुप्त)

नवम सर्ग

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला;
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्यदेही, विदेही।

विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा!

कठिन है कविते, तव-भूमि ही।
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

करुणे, क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई-
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई?'

अवध को अपनाकर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से,
भवन में वन का व्रत ले लिया!

स्वामि-सहित सीता ने
नन्दन माना सघन-गहन कानन भी,
वन उर्मिला बधू ने
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी!

अपने अतुलित कुल में
प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल-बाला ने
अश्रु-सलिल से समस्त धो डाला।

भूल अवधि-सुध प्रिय से
कहती जगती हुई कभी-'आओ!'
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौंक बोल कर-'जाओ!'

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप।

आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग!

आठ पहर चौंसठ घड़ी, स्वामी का ही ध्यान!
छूट गया पीछे स्वयं, उसका आत्मज्ञान!!

उस रुदन्ती विरहणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट,
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट।

सुदूर प्यारे पति का मिलाप था,
वियोगिनी के वश का विलाप था।
अपूर्व आलाप हुआ वही बड़ा,
यथा विपंची-डिड़, डाड़, डा, डड़ा!

"सीचें ही बस मालिनैं, कलश लें, कोई न ले कर्तरी,

शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन-शैल यंत्र जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ?
है ही क्या, हा! आज जो मैं जताऊँ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ, पाँचवीं तू प्रवीणा।

हुआ एक दुःस्वप्न-सा सखि, कैसा उत्पात
जगने पर भी वह बना वैसा ही दिनरात!

खान-पान तो ठीक है, पर तदन्तर हाय!
आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय?

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई?
वही पाक है, जो बिना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही उसे कौन खावे?

बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना?
वन की भेंट मिली है,
एक नई वह जड़ी मुझे जीजी से,
खाने पर सखि, जिसके
गुड़ गोबर-सा लगे स्वयं ही जी से!

रस हैं बहुत परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,
बिना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग!

लाई है क्षीर क्यों तू? हठ मत कर यों,
में पियूँगी न आली,
में हूँ क्या हाय! कोई शिशु सफलहठी,
रंक भी राज्यशाली?
माना तू ने मुझे है तरुण विरहिणी;
वीर के साथ व्याहा,
आँखो का नीर ही क्या कम फिर मुझको?
चाहिए और क्या हा!

चाहे फटा फटा हो, मेरा अम्बर अशून्य है आली,
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली!

धूलि-धूसर हैं तो क्या, यों तो मृन्मात्र गात्र भी;
वस्त्र ये वल्कलों से तो हैं सुरम्य, सुपात्र भी!

फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से;
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से?

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहनलूँ ला, सब करूँ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।

रोती हैं और दूनी निरख कर मुझे
दीन-सी तीन सासैं,
होते हैं देवश्री नत, हत बहनें
छोड़ती हैं उसासैं।
आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना
में कहाँ आज जाऊँ?
दीना, हीना, अधीना ठहर कर जहाँ
शान्ति दूँ और पाऊँ?

आई थी सखि, मैं यहाँ लेकर हर्षोच्छ्वास,
जाऊँगी कैसे भला देकर यह निःश्वास?

कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप?
प्रिय के फिरने पर इन्हें फिरना होगा आप।

साल रही सखि, माँ की

झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोलीं जब वे मुझसे-
'मिला न वन ही न गेह ही तुझको!'

जात तथा जमाता समान ही मान तात थे आये,
पर निज राज्य न मँझली माता को वे प्रदान कर पाये।

मिली मैं स्वामी से पर कह सकी क्या सँभल के?
बहे आँसू होके सखि, सब उपालम्भ गल के।
उन्हें हो आई जो निरख मुझको नीरव दया,
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हा! रह गया!

न कुछ कह सकी अपनी
न उन्हीं की पूछ मैं सकी भय से,
अपने को भूले वे
मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से।

मिथिला मेरा मूल है और अयोध्या फूल,
चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ भूल!

सिद्ध-शिलाओं के आधार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

तुझ पर ऊँचे उँचे झाड़,

तने पत्रमय छत्र पहाड़!
क्या अपूर्व है तेरी आड़,

करते हैं बहु जीव विहार!
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

घिर कर तेरे चारों ओर
करते हैं घन क्या ही घोर।
नाच नाच गाते हैं मोर,

उठती है गहरी गुंजार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

नहलाती है नभ की वृष्टि,
अंग पोंछती आतप-सृष्टि,
करता है शशि शीतल दृष्टि,

देता है ऋतुपति शृंगार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

तू निर्झर का डाल दुकूल,
लेकर कन्द-मूल-फल-फूल,
स्वागतार्थ सबके अनुकूल,

खड़ा खोल दरियों के द्वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

सुदृढ़, धातुमय, उपलशरीर,
अन्तःस्थल में निर्मल नीर,
अटल-अचल तू धीर-गभीर,

समशीतोष्ण, शान्तिसुखसार,

ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

विविध राग-रंजित, अभिराम,
तू विराग-साधन, वन-धाम,
कामद होकर आप अकाम,

नमस्कार तुझको शत वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

प्रोषितपतिकाएँ हों
जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,
समदुःखिनी मिलें तो
दुःख बँटें, जा, प्रणयपुरस्सर ले आ।

सुख दे सकते हैं तो दुःखी जन ही मुझे, उन्हें यदि भेटूँ,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ?

इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई?

मैं निज ललितकलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में,
सखि, पुरबाला-शाला खुलवादे क्यों न उपवन में?

कौन-सा दिखाऊँ दृश्य वन का बता मैं आज?

हो रही है आलि, मुझे चित्र-रचना की चाह,-
नाला पड़ा पथ में, किनारे जेठ-जीजी खड़े,
अम्बु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह?
किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह,
तलवे से कण्टक निकालते हों ये कराह?
अथवा झुकाये खड़े हों ये लता और जीजी
फूल ले रही हों; प्रभु दे रहे हों वाह वाह?

प्रिय ने सहज गुणों से, दीक्षा दी थी मुझे प्रणय, जो तेरी,
आज प्रतीक्षा-द्वारा, लेते हैं वे यहाँ परीक्षा मेरी।

जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,
हरी भूमि के पात पात में मैंने हृद्गति हेरी।
खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्णरश्मियाँ लेकर,
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी, सदय हृदय में सेकर।
तृण तृण को नभ सींच रहा था बूँद बूँद रस देकर,
बढ़ा रहा था सुख की नौका समयसमीरण खेकर।
बजा रहे थे द्विज दल-बल से शुभ भावों की भेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।
वह जीवनमध्यान्ह सखी, अब श्रान्तिक्लान्ति जो लाया,
खेद और प्रस्वेद-पूर्ण यह तीव्र ताप है छाया।
पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया?
रहे न हम में राम हमारे, मिली न हमको माया।
यह विषाद! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी?
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।
वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष-वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है,
उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।
पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुशल न मेरी-तेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,

आगे जीवन की सन्ध्या है, देखें क्या हो आली?
तू कहती है- 'चन्द्रोदय ही, काली में उजियाली'?
सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पदलाली?
किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली?
'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच? तो कृतार्थ यह चेरी।
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

सखि, विहग उड़ा दे, हों सभी मुक्तिमानी,
सुन शठ शुक-वाणी-'हाय! रूठो न रानी!'
खग, जनकपुरी की ब्याह दूँ सारिका में?
तदपि यह वहीं की त्यक्त हूँ दारिका में!
कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे?
विकच वदन वाले वे कृती कान्त मेरे?
सचमुच 'मृगया में'? तो अहेरी नये वे,
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे?

निहार सखि, सारिका कुछ कहे बिना शान्त-सी,
दिये श्रवण है यहीं, इधर मैं हुई भ्रान्त-सी।
इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी-
'धरो!' खगि, किसे धरूँ? धृति लिये गये हैं घनी।

तुझ पर-मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ?
तेरी ही प्रिय जन्मभूमि में, दूर नहीं,
जा तू भी कहना कि उर्मिला क्रूर वहीं!

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे?
लाते तुम्हीं हा! प्रिय-पत्र-पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे।
औरों की क्या कहिए,
निज रुचि ही एकता नहीं रखती;
चन्द्रामृत पीकर तू
चकोरि, अंगार है चखती!

विहग उड़ना भी ये हो वद्ध भूल गये, अये,
यदि अब इन्हें छोड़ूँ तो और निर्दयता दये!
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें, सब हैं बहे;

बस अब हमीं साथी-संगी, सभी इनके रहे।

मेरे उर-अंगार के बनें बाल-गोपाल,
अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल!

वेदने, तू भी भली बनी।

पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोडी है तू ने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
ब्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक-बुदबुद दे रहा!

दीपक-संग शलभ भी

जला न सखि, जीत सत्व से तम को,
क्या देखना - दिखाना
क्या करना है प्रकाश का हमको?

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है!

सीस हिलाकर दीपक कहता-
'बन्धु वृथा ही तू क्यों दहता?'

पर पतंग पड़ कर ही रहता

कितनी विह्वलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बचकर हाय! पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं तो मरा करे क्या?

क्या यह असफलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे-
'तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे?

शरण किसे छलता है?'
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलनें मैं आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली,

किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती;
काम नहीं, परिणाम निरखती।

मुझको ही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बता अरी, अब क्या करूँ, रुपी रात से रात,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ झखमार!

क्या क्षण क्षण में चौंक रही मैं?
सुनती तुझसे आज यही मैं।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ?

अरी, सुरभि, जा, लौट जा, अपने अंग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज!

यथार्थ था सो सपना हुआ है,
अलीक था जो, अपना हुआ है।
रही यहाँ केवल है कहानी,
सुना वही एक नई-पुरानी।

आओ, हो, आओ तुम्हीं, प्रिय के स्वप्न विराट,
अर्ध्र्य लिये आँखें खड़ीं हेर रही हैं बाट।

आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चन्दखिलौना ढूँगी!
प्रिय के आने पर आवेगी,
अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी।
पर यदि आज उन्हें लावेगी

तो तुझसे ही लूँगी।
आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!

पलक-पाँवड़ों पर पद रख तू,
तनिक सलौना रस भी चख तू,
आ, दुखिया की ओर निरख तू।

में न्यौँछावर हूँगी।
आ जा, मेरी निंदिया गूँगी!

हाय! हृदय को थाम, पड़ भी मैं सकती कहाँ,
दुःस्वप्नों का नाम, लेती है सखि, तू वहाँ।

स्नेह जलाता है यह बती!
फिर भी वह प्रतिभा है इसमें, दीखे जिसमें राई-रती।

रखती है इस अन्धकार में सखि, तू अपनी साख,
मिल जाती है रवि-चरणों में कर अपने को राख।

खिल जाती है पती पती
स्नेह जलाता है यह बती!

होने दे निज शिखा न चंचल, ले अंचल की ओट।
ईट ईट लेकर चुनते हैं हम कोसों का कोट।

ठंडी न पड़, बनी रह तती
स्नेह जलाता है यह बती!

हाय! न आया स्वप्न भी और गई यह रात,
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनुँ प्रभात?

चंचल भी किरणों का
चरित्र क्या ही पवित्र है भोला,
देकर साख उन्होंने
उठा लिया लाल लाल वह गोला!
सखि, नीलनभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता।

अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता!

भींगी या रज में सनी अलिनी की यह पाँख?
आलि, खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख?

बो बो कर कुछ काटते, सो सो कर कुछ काल,
रो रो कर ही हम मरे, खो खो कर स्वर-ताल!

ओहो! मरा वह वराक वसन्त कैसा?
ऊँचा गला रूँध गया अब अन्त जैसा।
देखो, बढ़ा ज्वर, जरा-जड़ता जगी है,
लो, ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है!

तपोयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार,
कूड़ा-कर्कट हो जहाँ, करो जला कर छार।

आया अपने द्वार तप, तू दे रही किवाड़,
सखि, क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर की आड़?

ठेल मुझे न अकेली अन्ध-अवनि-गर्भ-गेह में आली,
आज कहाँ है उसमें हिमांशु-मुख की अपूर्व उजियाली?

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही!
लपट से झट रूख जले, जले,
नद-नदी घट सूख चले, चले।
विकल वे मृग-मीन मरे, मरे,

विफल ये दृग-दीन भरे, भरे!

या तो पेड़ उखाड़ेगा, या पत्ता न हिलायेगा,
बिना धूल उड़ाये हा! ऊष्मानिल न जायगा!

गृहवापी कहती है-

'भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी?

पंकज तुम्हें दिये हैं,

और किसे पंक आज मैं दूँगी?'

दिन जो मुझको देंगे, अलि, उसे मैं अवश्य ही लूँगी,
सुख भोगे हैं मैं ने, दुःख भला क्यों न भोगूँगी?

आलि, इसी वापी में हंस बने बार बार हम विहरे,
सुधकर उन छींटों की मेरे ये अंग आज भी सिहरे।

चन्द्रकान्तमणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार,
चन्द्रकान्त आवें प्रथम जो सब के शृंगार।

हृदयस्थित स्वामी की स्वजनि, उचित क्यों नहीं अर्चा;
मन सब उन्हें चढ़ावे, चन्दन की एक क्या चर्चा?

करो किसी की दृष्टि को शीतल सदय कपूर,
इन आँखों में आप ही नीर भरा भरपूर।

मन को यों मत जीतो,
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो!
इतना तप न तपो तुम प्यारे,
जले आग-सी जिसके मारे।
देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे,

जन को भी मनचीतो।

मन को यों मत जीतो!

प्यासे हैं प्रियतम, सब प्राणी,
उन पर दया करो हे दानी,
इन प्यासी आँखों में पानी,

मानस, कभी न रीतो,
मन को यों मत जीतो!

धर कर धरा धूप ने धाँधी,
धूल उड़ाती है यह आँधी,
प्रलय, आज किस पर कटि बाँधी?

जड़ न बनो, दिन, बीतो,
मन को यों मत जीतो!

मेरी चिन्ता छोड़ो, मग्न रहो नाथ, आत्मचिन्तन में,
बैठी हूँ मैं फिर भी, अपने इस नृप-निकेतन में।

ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग;
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग!

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी
मधुरस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी!

तप, तुझसे परिपक्वता पाकर भले प्रकार,
बनें हमारे फल सकल, प्रिय के ही उपहार।

पड़ी है लम्बी-सी अवधि पथ में, व्यग्र मन है,
गला रूखा मेरा, निकट तुझसे आज घन है।

मुझे भी दे दे तू स्वर तनिक सारंग, अपना,
करूँ तो मैं भी हा! स्वरित प्रिय का नाम जपना।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकतीं यदि मोल!
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुये हैं उनके पांडु कपोल!
जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिंदोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल!

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान।
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!

घूम उठे हैं शून्य में उमड़-घुमड़ घन घोर,
ये किसके उच्छ्वास से छाये हैं सब ओर?

मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी!

मेरी ही धरती का धूम,
बना आज आली, घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुक झूम,

ढाल रहा मद मानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।

अब विश्राम करें रवि-चन्द्र;
उठें नये अंकुर निस्तन्द्र;
वीर, सुनाओ निज मृदुमन्द्र,

कोई नई कहानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।

बरस घटा, बरसूँ में संग;
सरसैं अवनी के सब अंग;
मिले मुझे भी कभी उमंग;

सबके साथ सयानी।
मेरी ही पृथिवी का पानी।

घटना हो, चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य
आती है ऊपर सखी, छा कर चन्द्रादित्य!

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी वारी।

बुँदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप!

न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो; नचे,
न संकुचित हो कहीं, मुदित हास्य-लीला रचे।
बनूँ न पर-विघ्न मैं, बस मुझे अबाधा यही,
विराग-अनुराग मैं अहह! इष्ट एकान्त ही।

इन्द्रबधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय?
नन्हीं दूबा का हृदय निकल पड़ा यह हाय!

अवसर न खो निठल्ली,

बढ़ जा, बढ़ जा, विटपि-निकट वल्ली,

अब छोड़ना न लल्ली,

कदम्ब-अवलम्ब तू मल्ली!

त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्हीं-सा,
यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्हीं-सा;

प्रिय-सदृश हँसा जो, नीप ही था, कहाँ वे?
प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा!

सफल है, उन्हीं घनों का घोष,
वंश वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, सन्तोष।
नभ में आप विचरते हैं जो,
हरा धरा को करते हैं जो,
जल में मोती भरते हैं जो,

अक्षय उनका कोष।

सफल है, उन्हीं घनों का घोष।
'नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से,
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।
किन्तु क्या करूँगा यहाँ?' उत्तर में मैं ने हँस
और भी बढ़ाये पैग दोनों ओर उले-से,
'हैं-हैं!' कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले-से!

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये,
फल-कामना नहीं थी, चढ़ा सकी फूल भी न मनभाये!

कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं,
आली, तोयद तड़क रहे हैं।
कुछ कहने के लिए लता के
अरुण अधर वे फड़क रहे हैं।
मैं कहती हूँ-रहें किसी के

हृदय वही, जो धड़क रहे हैं।
अटक अटक कर, भटक भटक कर,
भाव वही, जो भड़क रहे हैं!

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं, घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली-झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चोंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई! मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी!

तम में तू भी कम नहीं, जी, जुगनू बड़भाग,
भवन भवन में दीप हैं, जा, वन वन में जाग।

हा! वह सुहृदयता भी क्रीड़ा में है कठोरता जड़िता,
तड़प तड़प उठती है स्वजनि, घनालिङ्गिता तड़िता!

गाढ़ तिमिर की बाढ़ में डूब रही सब सृष्टि,
मानों चक्कर में पड़ी चकराती है दृष्टि।

लाई सखि, मालिनें थीं डाली उस वार जब,

जम्बूफल जीजी ने लिये थे, तुझे याद है?
मैं ने थे रसाल लिये, देवर खड़े थे पास,
हँस कर बोल उठे-‘निज निज स्वाद है!’
मैं ने कहा-‘रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर?’
बोले-‘देवि, दोनों ओर मेरा रस-वाद है,
दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं’ हाय! आली आज
विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है!

निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि-पानी,
सुखा विचित्राम्बर सृष्टिरानी!
तथापि क्या मानस रिक्त मेरा?
बना अभी अंचल सिक्त मेरा।

सखि, छिन धूप और छिन छाया,
यह सब चौमासे की माया!

गया श्वास फिर भी यदि आया,
तो सजीव है कृश भी काया।
हमने उसको रोक न पाया,
तो निज दर्शन-योग-गमाया।

ले लो, दैव जहाँ जो लाया।
यह सब चौमासे की माया!

पथ तक जकड़े हैं झाड़ियाँ डाल घेरा,
उपवन वन-सा हा! हो गया आज मेरा।
प्रियतम वनचारी गेह में भी रहेंगे,
कह सखि, मुझसे वे लौट के क्या कहेंगे?

करें परिष्कृत मालिनें आली, यह उद्यान;
करते होंगे गहन में प्रियतम इसका ध्यान।

रह चिरदिन तू हरी-भरी,
बढ़, सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी!
सुध प्रियतम की मिले मुझे,
फल जन-दीवन-दान का तुझे।

हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो, हिंड़ोरे पर बैठ झूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,

झड़ी लगा दूँ इतना पिये हूँ!

प्रकृति, तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है,
जड़ित चेतन की त्रुटि-पूर्ति है।
रख सजीव मुझे मन की व्यथा,
कह सखी, कह, तू उनकी कथा।

निरख सखी, ये खंजन आये,

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंधूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही दिये दूब ने भेट,
उन्हें बना कर रत्न-कण रवि ने लिया समेट।

प्रिय को था मैंने दिया पद्म-हार उपहार,
बोले-‘आभारी हुआ पाकर यह पद-भार!’

अम्बु, अवनि, अम्बर में स्वच्छ शरद की पुनीत क्रीड़ा-सी,
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त-पीड़ा-सी!

हुआ विदीर्ण जहाँ तहाँ श्वेत आवरण जीर्ण,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण!

शफरी, अरी, बता तू

तड़प रही क्यों निमग्न भी इस सर में?

जो रस निज गागर में,
सो रस-गोरस नहीं स्वयं सागर में।

भ्रमरी, इस मोहन मानस के
बस मादक हैं रस-भाव सभी,
मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पंकज-बंधन में,
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते सविशेष
किसी जन का सुखभोग कभी!

इस उत्पल-से काय में हाय! उपल-से प्राण?
रहने दे बक, ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण!

हंस, छोड़ आये कहाँ मुक्ताओं का देश?
यहाँ वन्दिनी के लिए लाये क्या सन्देश?

हंस, हहा! तेरा भी बिगड़ गया क्या विवेक बन बन के?
मोती नहीं, अरे, ये आँसू हैं उर्मिला जन के!

चली क्रौंचमाला, कहाँ ले कर वन्दनवार?
किस सुकृती का द्वार वह जहाँ मंगलाचार!

सखि, गोमुखी गंगा रहे, कुररीमुखी करुणा यहाँ;
गंगा जहाँ से आ रही है, जा रही करुणा वहाँ!

कोक, शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात।
धीरज धर, अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात!

हा! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया,
यह चन्द्रोदय उसको उड़ा रहा है धवल वसन-सा धोया।

सखि, मेरी धरती के करुणांकुर ही वियोग सेता है,
यह औषधीश उनको स्वकरों से अस्थिसार देता है!

जन प्राचीजननी ने शशिशिशु को जो दिया डिठौना है,
उसको कलंक कहना, यह भी मानों कठोर टौना है!

सजनी, मेरा मत यही, मंजुल मुकुर मयंक,
हमें दीखता है वहाँ अपना राज्य-कलंक!

किसने मेरी स्मृति को

बना दिया है निशीथ में मतवाला?
नीलम के प्याले में
बुद्बुद दे कर उफन रही वह हाला!

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा!
निर्मल जल अंतःस्थल भरके,
उछल उछल कर, छल छल करके,
थल थल तरके, कल कल धरके,

बिखराता है पारा!
सखि, निरख नदी की धारा।

लोल लहरियाँ डोल रही हैं,
भ्रू-विलास-रस घोल रही हैं,
इंगित ही में बोल रही हैं,

मुखरित कूल-किनारा!

सखि, निरख नदी की धारा।

पाया,-अब पाया-वह सागर,
चली जा रही आप उजागर।
कब तक आवेंगे निज नागर

अवधि-दूतिका-द्वारा?
सखि, निरख नदी की धारा।

मेरी छाती दलक रही है,
मानस-शफरी ललक रही है,
लोचन-सीमा छलक रही है,

आगे नहीं सहारा!
सखि, निरख नदी की धारा।

सखी, सत्य क्या मैं घुली जा रही?
मिलूँ चाँदनी में, बुरा क्या यही?
नहीं चाहते किन्तु वे चाँदनी,
तपोमग्न हैं आज मेरे धनी।

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय!
तो क्या मैं निःश्वास भी न लूँ आज निरुपाय?

तारक-चिन्हदुकूलिनी पी पी कर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाकर-पात्र।

[२]

यदपि काल है काल अन्त में,
उष्ण रहे चाहे वह शीत,
आया सखि हेमन्त दया कर
देख हमें सन्तप्त-सभीत।

आगत का स्वागत समुचित है, पर क्या आँसू लेकर?
प्रिय होते तो लेती उसको मैं घी-गुड़ दे देकर।

पाक और पकवान रहें, पर
गया स्वाद का अवसर बीत,
आया सखि, हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।
हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको, देख दैन्य यह मेरा,
करता रह प्रति वर्ष यहाँ तू फिर फिर अपना फेरा।

ब्याज-सहित ऋण भर दूँगी मैं ,
आने दे उनको हे मीत,
आया सखि, हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।
सी सी करती हुई पार्श्व में पाकर जब-तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।

कंबल ही संबल है अब तो,
ले आसन ही आज पुनीत,
आया सखि, हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।
कालागरु की सुरभि उड़ा कर मानों मंगल तारे,
हँसे हंसन्ती में खिल खिल कर अनल-कुसुम अंगारे।
आज धुकधुकी में मेरी भी

ऐसा ही उद्दीप्त अतीत!
आया सखि, हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।

अब आतप-सेवन में कौन तपस्या, मुझे न यों छल तू;
तप पानी में पैठा, सखि, चाहे तो वहीं चल तू!

नाइन, रहने दे तू, तेल नहीं चाहिए मुझे तेरा,
तनु चाहे रूखा हो, मन तो सुस्नेह-पूर्ण है मेरा।

मेरी दुर्बलता क्या

दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण में?
देख, निरख मुख मेरा
वह तो धुँधला हुआ स्वयं ही क्षण में!

एक अनोखी मैं ही
क्या दुबली हो गई सखी, घर में?
देख, पद्मिनी भी तो
आज हुई नालशेष निज सर में।

पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से-
कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की?
बोले-"इस बार देवि, देखने में भूमि पर
दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैं ने एक ग्राम में तो कर्षकों ने
अन्न, गुड़, गोरस की वृद्धि ही बखान की,
किन्तु 'स्वाद कैसा है, न जानें, इस वर्ष हाय!'
यह कह रोई एक अबला किसान की!"

हम राज्य लिए मरते हैं!
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं।
जिनके खेतों में हैं अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न?
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव-वैभव भरते हैं,

हम राज्य लिए मरते हैं!
वे गो-धन के धनी उदार,
उनको सुलभ सुधा की धार,
सहनशीलता के आगर वे श्रम-सागर तरते हैं।

हम राज्य लिए मरते हैं!
यदि वे करें, उचित है गर्व,
बात बात में उत्सव-पर्व,
हम-से प्रहरी-रक्षक जिनके, वे किससे डरते हैं?

हम राज्य लिए मरते हैं!
करके मीन-मेख सब ओर,
किया करें बुध वाद कठोर,
शाखामयी बुद्धि तज कर वे मूल-धर्म धरते हैं।

हम राज्य लिए मरते हैं!
होते कहीं वही हम लोग,
कौन भोगता फिर ये भोग?
उन्हीं अन्नदाताओं के सुख आज दुःख हरते हैं!

हम राज्य लिए मरते हैं!
प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार,
मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य, तुझे धिक्कार!
चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।
प्रियतम प्रभु के संग आयँगे तब हे सजनी,
अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी!
पर पल पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर,
कलह-मूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर!

सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था, सभीत-सा शीत के कसाले से,

सजनी, यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से!

आये सखि, द्वार-पटी हाथ से हटा के प्रिय
वंचक भी वंचित-से कम्पित विनोद में,
'ओढ़ देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह'
बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में।
क्या हुआ, उठी मैं झट प्रावरण छोड़ कर
परिणत हो रहा था पवन प्रतोद में,
हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दम्पति के,
कर्षित थे दोनों बाहु-बन्धन के मोद में।

करती है तू शिशिर का बार बार उल्लेख,
पर सखि, मैं जल-सी रही, धुवाँधार यह देख!

सचमुच यह नीहार तो अब तू तनिक विहार,
अन्धकार भी शीत से श्वेत हुआ इस बार!

कभी गमकता था जहाँ कस्तूरी का गन्ध;
चौंक चमकता है वहाँ आज मनोमृग अन्ध!

शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नंदन में,
कितना कंपन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में।
सखी कह रही, पांडुरता का क्या अभाव आनन में?
वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूँ उसको मन में।
हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं, -अपने इस जीवन में,
तो उत्कंठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में।

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा।

भूल पड़ी तू किरण, कहाँ?
झाँक झरोखे से न, लौट जा, गूँजे तुझसे तार जहाँ।

मेरी वीणा गीली गीली;
आज हो रही ढीली ढीली;
लाल हरी तू पीली नीली,

कोई राग न रंग यहाँ।
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ?

शीत काल है और सबेरा;
उछल रहा है मानस मेरा;
भरे न छींटों से तनु तेरा,

रुदन जहाँ क्या गान वहाँ?
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ?

मेरी दशा हुई कुछ ऐसी
तारों पर अँगुली की जैसी,
मीँड, परन्तु कसक भी कैसी?

कह सकती हूँ नहीं न हाँ।
भूल पड़ी तू किरण, कहाँ?

न तो अगति ही है न गति, आज किसी भी ओर,
इस जीवन के झाड़ में रही एक झकझोर!

पाऊँ मैं तुम्हें आज, तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।
फूल और फल-निमित्त,
बलि देकर स्वरस-वित्त,
लेकर निश्चिन्त चित्त,

उड़ न हाय! जाओ,
लूँ मैं अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।
तुम हो नीरस शरीर,
मुझ में है नयन-नीर;
इसका उपयोग वीर,

मुझको बतलाओ।
लूँ मैं अंचल पसार, पीतपत्र, आओ।

जो प्राप्ति हो फूल तथा फलों की,
मधूक, चिन्ता न करो दलों की।
हो लाभ पूरा पर हानि थोड़ी,
हुआ करे तो वह भी निगोड़ी।

श्लाघनीय हैं एक-से दोनों ही द्युतिमन्त,
जो वसन्त का आदि है, वही शिशिर का अन्त।

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है,
भुवन तो मन के अनुरूप है।
हसित कुन्द रहे कवि का कहा,
सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा!

हाय! अर्थ की उष्णता देगी किसे न ताप?
धनद-दिशा में तप उठे आतप-पति भी आप।

अपना सुमन लता ने
निकाल कर रख दिया, बिना बोले,
आलि, कहाँ वनमाली,
झड़ने के पूर्व झाँक ही जो ले?

काली काली कोईल बोली-
होली-होली-होली!

हँस कर लाल लाल होठों पर हरयाली हिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली।

होली-होली-होली!

अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोली,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।

होली-होली-होली!

रागी फूलों ने पराग से भरली अपनी झोली,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट में घोली।

होली-होली-होली!

ऋतुने रवि-शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन-भावना भोली?

होली-होली-होली!

गूँज उठी खिलती कलियों पर उड़ अलियों की टोली,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।

होली-होली-होली!

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप!

भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर,
लेना चम्पक-गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर।

सहज मातृगुण गन्ध था कर्णिकार का भाग;
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग!

मुझे फूल मत मारो,

में अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नही भोगनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह-यह हरनेत्र निहारो!
रूप-दर्प कंदर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!

फूल! खिलो आनन्द से तुम पर मेरा तोष;
इस मनसिज पर ही मुझे दोष देख कर रोष।

आई हूँ सशोक मैं अशोक, आज तेरे तले,

आती है तुझे क्या हाय! सुध उस बात की।
प्रिय ने कहा था-‘प्रिये, पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की!’
देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर,
वक्ष भर मैं ने भी हँसी यों अकस्मात की-
‘भूलते हो नाथ, फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की!’

सूखा है यह मुख यहाँ, रूखा है मन आज;
किन्तु सुमन-संकुल रहे प्रिय का वकुल-समाज।

करूँ बड़ाई फूल की या फल की चिरकाल?
फूला-फला यथार्थ मैं तू ही यहाँ रसाल!

देखूँ मैं तुझको सविलास;
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

अतुल अम्बुकुल-सा अमल भला कौन है अन्य?
अम्बुज, जिसका जन्य तू धन्य, धन्य, ध्रुव धन्या!

साधु सरोवर-विभव-विकास!
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

कब फूलों के साथ फल, फूल फलों के साथ?
तू ही ऐसा फूल है फल है जिसके हाथ।

ओ मधु के अनुपम आवास,
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

एक मात्र उपमान तू, हैं अनेक उपमेय,
रूप-रंग गुण-गंध में तू ही गुरुतम, गेय।

ओ उन अंगो के आभास!
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

तू सुषमा का कर कमल, रति-मुखाब्ज उदगीव;
तू लीला-लोचन नलिन, ओ प्रभु-पद राजीव!

रच लहरों को लेकर रास,
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

सहज सजल सौन्दर्य का जीवन-धन तू पद्म,
आर्य जाति के जगत की लक्ष्मी का शुभ सद्म।

क्या यथार्थ है यह विश्वास,
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

रह कर भी जल-जाल में तू अलिप्त अरविन्द,
फिर तुझ पर गूँजें न क्यों कविजन-मनोमिलिन्द!

कौन नहीं दानी का दास?
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

तेरे पट है खोलता आकर दिनकर आप;
हरता रह निष्पाप तू हम सब के सन्ताप।

ओ मेरे मानस के हास!
खिल सहस्रदल, सरस, सुवास!

पैठी है तू षट्पदी, निज सरसिज में लीन;
सप्तपदी देकर यहाँ बैठी मैं गति-हीन!

बिखर कली झड़ती है, कब सीखी किन्तु संकुचित होना?
संकोच किया मैं ने, भीतर कुछ रह गया, यही रोना!

अरी, गूँजती मधुमक्खी;
किसके लिए बता तू ने वह रस की मटकी रक्खी?
किसका संचय दैव सहेगा?
काल घात में लगा रहेगा,
व्याध बात भी नहीं कहेगा,

लूटेगा घर लक्खी!
अरी, गूँजती मधुमक्खी।

इसे त्याग का रंग न दीजो,
अपने श्रम का फल है, लीजो,
जयजयकार कुसुम का कीजो,

जहाँ सुधा-सी चक्खी।
अरी, गूँजती मधुमक्खी!

सखि, मैं भव-कानन में निकली
बन के इसकी वह एक कली,
खिलते खिलते जिससे मिलने

उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको,
तब लौं यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूँज यहाँ
किस ओर गया वह छोड़ छली?

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं?
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं।
किन्तु नहीं, चुन ले सहर्ष खिले फूल सब
रूप, गुण, गन्ध से जो तेरे मनभाये हैं,
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए,
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाये हैं।

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने की,
जैसी मिलती जुलती उच्चाशा है भली मुझे मिलने की!

मान छोड़ दे, मान, अरी,
कली, अली आया, हँस कर ले, यह वेला फिर कहाँ धरी,
सिर न हिला झोंकों में पड़ कर, रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी।

भिन्न भी भाव-भंगी में भाती है रूप-सम्पदा,
फूल धूल उड़ा के भी आमोदप्रद है सदा।

फूल, रूप-गुण में कहीं मिला न तेरा जोड़;
फिर भी तू फल के लिए अपना आसन छोड़।

सखि, बिखर गई हैं कलियाँ,
कहाँ गया प्रिय झुकामुकी में करके वे रँग-रलियाँ?
भुला सकेंगी पुनः पवनको अब क्या इनकी गलियाँ?

यही बहुत, ये पचें उन्हीं में जो थीं रंगस्थलियाँ।

कह कथा अपनी इस घाण से,
उड़ गये मधु-सौरभ प्राण-से।

फल हमें हमको-तुमको सखी,
तदपि बीज रहें सब त्राण-से।

उठती है उर में हाय! हूक,
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक?

क्या ही सकरुण, दारुण, गभीर,
निकली है नभ का चित्त चीर;
होते हैं दो दो दृग सनीर,

लगती है लय की एक लूक!
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक?

तेरे क्रन्दन तक में सु-गान,
सुनते हैं जग के कुटिल कान;
लेने में ऐसा रस महान।

हम चतुर करें किस भाँति चूक!
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक?

री, आवेगा फिर भी वसन्त;
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दुःखों का भी है एक अन्त,

हो रहिए दुर्दिन देख मूक।
ओ कोइल, कह, यह कौन कूक?

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैं ने लिया,

दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया!

हे मानस के मोती, ढलक चले तुम कहाँ बिना कुछ जाने?
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने?

न जा अधीर धूल में,
दृगम्बु, आ, दुकूल में।
रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल में,
मेरे भाव आँसुओं में हैं, और लता के फूल में।

दृगम्बु, आ, दुकूल में।
फूल और आँसू दोनों ही उठें हृदय की हूल में,
मिलन-सूत्र-सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में।

दृगम्बु, आ, दुकूल में।
मधु हँसने में, लवण रुदन में रहे न कोई भूल में,
मौज किन्तु मँझधार बीच है किंवा है वह कूल में?
दृगम्बु, आ, दुकूल में।

नयनों को रोने दे,
मन, तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं,
आँखों से ओझल हों,
गये नहीं वे कहीं, यहीं पैठे हैं!

आँख, बता दे तू ही, तू हँसती या यथार्थ रोती है?
तेरे अधर-दशन ये, या तू भर अश्रुबिन्दु ढोती है?

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मैं सुध करके रोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!
मानती हूँ, तुम मेरे साध्य,
अहर्निशि एक मात्र आराध्य,
साधिका में भी किन्तु अवाध्य,

जागती होऊँ, या सोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!
सफल हो सहज तुम्हारा त्याग,
नहीं निष्फल मेरा अनुराग,
सिद्धि है स्वयं साधना-भाग,

सुधा क्या, क्षुधा जो न होती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!
काल की रुके न चाहे चाल,
मिलन से बड़ा विरह का काल;
वहाँ लय, यहाँ प्रलय विकराल!

दृष्टि में दर्शनार्थ धोती!
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!

अर्थ, तुझे भी हो रही पदप्राप्ति की चाह?
क्या इस जलते हृदय में और नहीं निर्वाह?

स्वजनि, रोता है मेरा गान,
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

झिलता नहीं समीर पर इस जी का जंजाल,
झड़ पड़ते हैं शून्य में बिखर सभी स्वर-ताल।

विफल आलाप-विलाप समान,
स्वजनि, रोता है मेरा गान।

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द,
व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द।

दिखा कर पद-गौरव का ध्यान।

स्वजनि, रोता है मेरा गान।

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रही दिन-रात।

जना देते हैं सभी अजान,
स्वजनि, रोता है मेरा गान।

दुख भी मुझसे विमुख हो करें न कहीं प्रयाण,
आज उन्हीं में तो तनिक अटके हैं ये प्राण।

विरह में आ जा, तू ही मान!
स्वजनि, रोता है मेरा गान।

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जा कर मैं भी रहूँ उसी वन में।

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे, पर साथ साथ ही समाधान भरपूर।

हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में।

बीच बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लोटूँ उसी धूल में लोट।

रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में।

जाती जाती, गाती गाती, कह जाऊँ यह बात-
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात।

प्रेम की ही जय जीवन में,

यही आता है इस मन में।

अब जो प्रियतम को पाऊँ

तो इच्छा है, उन चरणों की रज में आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
में अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा-सी आई थी जग में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ!
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ!
इधर अनल है और उधर जल हाय! किधर मैं जाऊँ?
प्रबल बाष्प, फट जाय न यह घट कह तो हाहा खाऊँ?

उठ अवार न पार जाकर भी गई,
उर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई!

अटक जीवन के विशेष विचार में,
भटकती फिरती स्वयं मँझधार में,
सहज कर्षण कूल, कुंज, कछार में,
विषमता है किन्तु वायु-विकार में,

और चारों ओर चक्कर हैं कई,
उर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई!

पर विलीन नहीं, रहूँ गतिहीन मैं,
दैन्य से न दबूँ कभी, वह दीन मैं।
अति अवश हूँ, किन्तु आत्म-अधीन मैं;
सखि, मिलन के पूर्व ही प्रिय-लीन मैं।

कर सका सो कर चुका अपना दर्ई,

उर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई!

आये एक बार प्रिय बोले-‘एक बात कहूँ,

विषय परन्तु गोपनीय सुनों कान में!’
मैं ने कहा-‘कौन यहाँ?’ बोले-‘प्रिये, चित्र तो हैं;
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।’
लाल किये कर्णमूल होंठों से उन्होंने कहा-
‘क्या कहूँ सगद्गद हूँ, मैं भी छद-दान में;
कहते नहीं हैं , करते हैं कृती!’ सजनी में
खीझ के भी रीझ उठी उस मुस्कान में!

मेरे चपल यौवन-बाल!

अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि-माल।
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य-रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल!

यही वाटिका थी, यही थी मही,
यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही।
यहीं वल्लकी में लिए गोद में
उसे छेड़ती थी महा मोद में।
यही कण्ठ था, कौन-सा गान था?-
‘न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था!’

यही टेक में तन्मयी छोर से,
लगी छेड़ने कान्त की ओर से।
अकस्मात् निःशब्द आये जयी,
मनोवृत्ति थी नाथ की मन्मयी।

सखी, आप ही आपको वे हँसे-
 'बड़े वीर थे, आज अच्छे फँसे!
 हँसी मैं, अजी, मानिनी तो गई,
 बधाई! मिली जीत यों ही नई!
 'प्रिये हार में ही यहाँ जीत है।
 रुका क्यों तुम्हारा नया गीत है?'
 जहाँ आ गई चाप-टंकार है,
 वहाँ व्यर्थ-सी आप झंकार है।
 'प्रिये, चाप-टंकार तो सो रही,
 स्वयं मग्न झंकार में हो रही।'
 भला!-प्रश्न है किन्तु संसार में-
 भली कौन झंकार-टंकार में?
 'शुभे, धन्य झंकार है धाम में,
 रहे किन्तु टंकार संग्राम में।
 इसी हेतु है जन्म टंकार का,
 न टूटे कभी तार झंकार का।
 यही ठीक, टंकार सोती रहे,
 सभी ओर झंकार होती रहे।
 सुनो, किन्तु है लोभ संसार में,
 इसी हेतु है क्षोभ संसार में।
 हमें शान्ति का भार जो है मिला,
 इसी चाप की कोटियों से झिला।'

हुआ,-किन्तु कोदण्ड-विद्या-कला
 मुझे व्यर्थ, क्यों और सीखूँ भला?
 भले उर्मिला के लिए गान ये,
 विवादी स्वरों से बचें कान ये।
 करूँ शिष्यता क्यों तुम्हारी अहो,
 बनूँ तांत्रिकी शिक्षिका जो कहो।
 मृगों को धरो तो सही चाप से,

कहो, खींच लूँ मैं स्वरालाप से!
'अभी खींच ही जो लिया है! रहो,
बनी शिष्य से शिक्षिका, क्यों न हो!
तुम्हारी स्वरालाप-धारा बहे
पड़ा कूल में चाप मेरा रहे।'
इसी भाँति आलाप-संलाप में,
(न ऐसे महाशाप में, ताप में,)
हमारा यहाँ काल था बीतता,
न सन्तोष का कोश था रीतता।
हरे! हाय! क्या से यहाँ क्या हुआ?
उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ!
हिया-पीजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला!

स्वप्न था वह जो देखा, देखूँगी फिर क्या अभी?
इस प्रत्यक्ष से मेरा परित्राण कहाँ अभी?

कूड़े से भी आगे
पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते,
दिन बारह वर्षों में
घूड़े के भी सुने गये हैं फिरते!

रस पिया सखि, नित्य जहाँ नया,
अब अलभ्य वहाँ विष हो गया!
मरण-जीवन की यह संगिनी
बन सकी वन की न विहंगिनी!

सखि, यहाँ सब ओर निहार तू,
फिर विचार अतीत-विहार तू।
उदित-से सब हास-विलास हैं,
रुदित-से अब किन्तु उदास हैं।

स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ,
कुशल तो, अपनापन खो सकूँ।
शपथ है, उपचार न कीजियो,
अवधि की सुधि ही तुम लीजियो।
बस इसी प्रिय-कानन-कुंज में,
मिलन-भाषण के स्मृति-पुंज में,
अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो,
हसन-रोदन से न पसीजियो।
सखि, न मृत्यु, न आधि, न व्याधि ही,
समझियो तुम स्वप्न-समाधि ही।
हहह! पागल हो यदि उर्मिला,
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला!
प्रिय यहाँ वन से जब आयँगे
सब विकार स्वयं मिट जायँगे।
न सपने सपने रह पायँगे,
प्रकटता अपनी दिखलायँगे।
अब भी समक्ष वह नाथ खड़े,
बढ़ किन्तु रिक्त यह हाथ पड़े।
न वियोग है न यह योग सखी,
कह कौन भाग्य मय भोग सखी?

विचारती हूँ सखि, मैं कभी कभी,
अरण्य से हैं प्रिय लौट आते।
छिपे छिपे आकर देखते सभी
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते!

आते यहाँ नाथ निहारने हमें,
उद्धारने या सखि, तारने हमें?
या जानने को, किस भाँति जी रहे?
तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे!

सखि, विचार कभी उठता यही-
अवधि पूर्ण हुई, प्रिय आ गये।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही;
वह वही, पर आज नये नये!

निरखती सखी, आज मैं जहाँ,
दयति-दीप्ति ही दीखती वहाँ।

हहह! उर्मिला भ्रान्त है, रहे,
यह असत्य तो सत्य भी बहे।
ज्वलित प्राण भी प्राण पागये,
सुभग आगये, कान्त आगये!
निकल हंस-से केकि-कुंज से,
निरख वे खड़े प्रेम-पुंज-से!
रुचिर चन्द्र की चन्द्रिका खिली,
निज अशोक से मल्लिका मिली।
अवधि होगई पूर्ण अन्त में,
सुयश छा रहा है दिगन्त में।
स्वजनि, धन्य है आज की घड़ी,
तदपि खिन्न-सी तू यहाँ खड़ी!
त्वरित आरती ला, उतार लूँ,
पद दृगम्बु से मैं पखार लूँ।
चरण हैं भरे देख, धूल से,
विरह-सिन्धु में प्राप्त कूल-से।
विकट क्या जटाजूट है बना,
भृकुटि युग्म में चाप-सा तना।
वदन है भरा मन्द हास से,
गलित चन्द्र भी श्री-विलास से।
ललित कन्धरा, कण्ठ कम्बु-सा,
नयन पद्म-से, ओज अम्बु-सा।
तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है,

सुलभ योग है और क्षेम है।
उदित उर्मिला-भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है!

विजय नाथ की हो सभी कहीं,
तदपि क्यों खड़े हो गये वहीं?
प्रिय, प्रविष्ट हो, द्वार मुक्त है,
मिलन-योग तो नित्य युक्त है।
तुम महान हो और हीन में,
तदपि धूलि-सी अंधि-लीन में।
दयित, देखते देव भक्ति को,
निरखते नहीं नाथ, व्यक्ति को।
तुम बड़े, बने और भी बड़े,
तदपि उर्मिला-भाग में पड़े।
अब नहीं, रही दीन में कभी,
तुम मुझे मिले तो मिला सभी।
प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
कि जिनके लिए था तुझे तजा?
वह नहीं फिरे? क्या तुम्हीं फिरे?
हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे।
दयित, क्या मुझे आर्त जान के
अधिप ने अनुक्रोश मान के,
घर दिया तुम्हें भेज आप ही?
यह हुआ मुझे और ताप ही।
प्रिय, फिरो, फिरो हा! फिरो, फिरो!
न इस मोह की घूम से घिरो।
विकल में यहाँ, किन्तु गर्विणी,
न कर दो मुझे नष्टपर्विणी।
घर फिरे तुम्हीं मोह से कहीं,
तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं?

च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा,
धिक! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।
समय है अभी, हा! फिरो, फिरो,
तुम न यों यशः-स्वर्ग से गिरो।
प्रभु दयालु हैं, लौट के मिलो,
न उनके कुटी-द्वार से हिलो।
धिक! प्रतीति भी की न नाथ की,
पर न थी सखी, बात हाथ की।
प्रतिविधान में क्या करूँ बता,
इस अनर्थ का भी कहीं पता!
अधम उर्मिले, हाय निर्दया!
पतित नाथ हैं? तू सदाशया?
नियम पालती एक मात्र तू,
सब अपात्र हैं, और पात्र तू?
मुहँ दिखायगी क्या उन्हें अरी;
मर ससंशया, क्यों न तू मरी।
सदय वे, बता किन्तु चंचला,
वह क्षमा सही जायगी भला?

'बिसरता नहीं न्याय भी दया,
बस रहो प्रिये, जान में गया।
तुम अधीर हो तुच्छ ताप में
रह सकी नहीं आप आप में!
न उस धूप में और मेह में,
तुम रहीं यहाँ राजगेह में।
विदित क्या तुम्हें, देवि, क्या हुआ,
रुधिर स्वेद के रूप में चुआ।
विपिन में कभी सो सका न मैं,
अधिक क्या कहूँ, रो सका न मैं।
वचन ये पुरस्कार में मिले,

अहह उर्मिले! हाय उर्मिले!
गिन सको, गिनो शूल, जो चुभे,
सहज है समालोचना शुभे!
कठिन साधना किन्तु तत्व की,
प्रथम चाहिए सिद्धि सत्व की।
कठिन कर्म का क्षेत्र था वहाँ,
पर यहाँ? कहो देवि, क्या यहाँ?
उलहना कभी दैव को दिया,
बहुत जो किया, नैक रो लिया!
सतत पुण्य या पाप-संगिनी,
समझता रहा आत्मअंगिनी।
स्वपति-पुण्य ही इष्ट था तुम्हें,
कटु मुझे, तथा मिष्ट था तुम्हें?
प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं? भला!
मत छोओ मुझे, लौट मैं चला।

तुम सुखी रहो हे विरागिनी,
बस विदा मुझे पुण्यभागिनी!
हट सुलक्षणे, रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों।
विवश लक- 'नहीं, उर्मिला हहा!
किधर उर्मिला? आलि, क्या कहा?

फिर हुई अहा! मत उर्मिला,
सखि, प्रियत्व था क्या मुझे मिला?
यह वियोग या रोग, जो कहे,
प्रियमयी सदा उर्मिला रहे।

उन्मादिनी कभी थी,
विवेकिनी उर्मिला हुई सखि, अब है;
अज्ञान भला, जिसमें

सोंह तो क्या, स्वयं अहं भी कब है?

बँध कर घुलना अथवा,
जल पल भर दीप-दान कर खुलना;
तुझको सभी सहज है,

मुझको कर्पूरवर्ति, बस घुलना!

लाना, लाना, सखि, तूली!
आँखों में छवि झूली।

आ, अंकित कर उसे दिखाऊँ;
इस चिन्ता से छुट्टी पाऊँ;
डरती हूँ, फिर भूल न जाऊँ;

मैं हूँ भूली भूली,
लाना, लाना, सखि, तूली!

जब जल चुकी विरहिणी बाला,
बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुँचा विरही मतवाला,

सती-हीन ज्यों शूली।
लाना, लाना, सखि, तूली!

झुलसा तरु मरमर करता था;
झड़ निर्झर झरझर झरता था;
हत विरही हरहर करता था;

उड़ती थी गोधूली।
लाना, लाना, सखि, तूली!

ज्यों ही अश्रु चिता पर आया

उग अंकुर पत्तों से छाया;
फूल वही वदनाकृति लाया,

लिपटी लतिका फूली!
लाना, लाना, सखि, तूली!

सिर-माथे तेरा यह दान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!

अब क्या माँगू भला और मैं फैला कर ये हाथ?
मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ।

मुझे न भूले उनका ध्यान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!

डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ;
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।

विधि से चलता रहै विधान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!

दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय?
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, जिसमें सबका श्रेय।

यही रुदन है मेरा गान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार;
तिल तिल काट रही थी दृगजल-धार।